

परम अध्यात्म तरंगिणी

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः

कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥1॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका

मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥3॥

अर्थ : बिन्दुसहित ॐकार को योगीजन सर्वदा ध्याते हैं, मनोवाँछित वस्तु को देने वाले और मोक्ष को देने वाले ॐकार को बार बार नमस्कार हो । निरंतर दिव्य-ध्वनि-रूपी मेघ-समूह संसार के समस्त पापरूपी मैल को धोनेवाली है मुनियों द्वारा उपासित भवसागर से तिरानेवाली ऐसी जिनवाणी हमारे पापों को नष्ट करो । जिसने अज्ञान-रूपी अंधेरे से अंधे हुये जीवों के नेत्र ज्ञानरूपी अंजन की सलाई से खोल दिये हैं, उस श्री गुरु को नमस्कार हो । परम गुरु को नमस्कार हो, परम्परागत आचार्य गुरु को नमस्कार हो ।

शुद्धं सच्चिद्रूपं भव्यांबुजचंद्रममृतमकलकं ।

ज्ञानाभूषणं वंदे सर्वविभावस्वभावसंयुक्तं ॥1॥

सुधाचंद्रमुनेर्वाक्यपद्यान्युद्धृत्य रम्याणि ।

विवृणोमि भक्तितोऽहं चिद्रूपे रक्तचित्तश्च ॥2॥

अन्वयार्थ : अथ श्रीमदमृतचंद्रसूरिः श्रीकुंदकुंदाचार्योक्तसमयसारप्राभृत-व्याख्यानं कुर्वाणः संस्तंदतरे चित्स्वरूपप्रकाशकानि-चिन्नाटकरंगावनि-वितीर्णानि पद्यानि परमाध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयानि रचयन् प्रथमतः परमात्मादिनमस्कृतिरूपमंगलमाचष्टे-नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।

चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥1॥

अन्वयार्थ : [नमः समयसाराय] 'समय' अर्थात् जीव नामक पदार्थ, उसमें सार—जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा, उसे मेरा नमस्कार हो । वह कैसा है ? [भावाय] शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है । इस विशेषणपद से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का मत खंडित हो गया । और वह कैसा है ? [चित्स्वभावाय] जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है । इस विशेषणसे गुण-गुणीका सर्वथा भेद माननेवाले नैयायिकों का निषेध हो गया । और वह कैसा है ? [स्वानुभूत्या चकासते] अपनी ही अनुभवनरूप क्रिया से प्रकाश करता है, अर्थात् अपने को अपने से ही जानता है , प्रगट करता है - इस विशेषण से आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही माननेवाले जैमिनीय भट्ट-प्रभाकर के भेदवाले मीमांसकों के मत का खण्डन हो गया; तथा ज्ञान अन्यज्ञान से जाना जा सकता है- स्वयं अपने को नहीं जानता, ऐसा माननेवाले नैयायिकों का भी प्रतिषेध हो गया । और वह कैसा है ? [सर्वभावान्तरच्छिदे] अपने से अन्य सर्व जीवाजीव, चराचर पदार्थोंको सर्वक्षेत्र - काल सम्बन्धी, सर्व विशेषणों के साथ, एक ही समय में जाननेवाला है । इस विशेषण से सर्वज्ञ का अभाव माननेवाले मीमांसक आदि का निराकरण हो गया । इस प्रकारके विशेषणों (गुणों) से शुद्ध आत्मा को ही इष्टदेव सिद्ध करके (उसे) नमस्कार किया है ।

अनंतधर्मणस्तत्त्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः ।

अनेकांतमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशतां ॥2॥

अन्वयार्थ : [अनेकान्तमयी मूर्तिः] जिनमें अनेक अन्त (धर्म) हैं ऐसे जो ज्ञान तथा वचन उसमयी मूर्ति [नित्यम् एव] सदा ही [प्रकाशताम्] प्रकाशरूप हो । कैसी है वह मूर्ति ? [अनन्तधर्मणः प्रत्यगात्मनः तत्त्वं] जो अनन्त धर्मोंवाला है और जो परद्रव्यों से तथा परद्रव्यों के गुण-पर्यायों से भिन्न एवं परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार है ऐसे आत्मा के तत्त्व को अर्थात् असाधारण - सजातीय विजातीय द्रव्यों से विलक्षण - निजस्वरूप का, [पश्यन्ती] वह मूर्ति अवलोकन करती है ।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥3॥

अन्वयार्थ : [समयसार-व्याख्यया एव] इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ) की व्याख्या (टीका) से ही [मम अनुभूतेः] मेरी अनुभूति की अर्थात् अनुभवनरूप परिणति की [परमविशुद्धिः] परम विशुद्धि (समस्त रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता) [भवतु] हो । कैसी है यह मेरी परिणति ? [परपरिणतिहेतोः मोहनाम्नः अनुभावात्] परपरिणति का कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके अनुभाव (उदयरूप विपाक) से [अविरतम्-अनुभाव्य-व्याप्ति-कल्माषितायाः] जो अनुभाव्य (रागादि परिणामों) की व्याप्ति है, उससे निरन्तर कल्माषित अर्थात् मैली है । और मैं कैसा हूँ ? [शुद्ध-चिन्मात्रमूर्तेः] द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ ।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥4॥

अन्वयार्थ : [उभय-नय विरोध-ध्वंसिनि] निश्चय और व्यवहार — इन दो नयों के विषय के भेदसे परस्पर विरोध है; उस विरोधका नाश करनेवाला [स्यात् पद-अंके] 'स्यात्'-पद से चिह्नित जो [जिनवचसि] जिन भगवानका वचन (वाणी) है, उसमें [ये रमन्ते] जो पुरुष रमते हैं (- प्रचुर प्रीति सहित अभ्यास करते हैं) [ते] वे [स्वयं] अपने आप ही (अन्य कारण के बिना) [वान्त मोहाः] मिथ्यात्वकर्म के उदयका वमन करके [उच्चैः परं ज्योतिः समयसारं] इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा को [सपदि ईक्षन्ते एव] तत्काल ही देखते हैं । वह समयसाररूप शुद्ध आत्मा [अनवम्] नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु पहले कर्मों से आच्छादित था सो वह प्रगट व्यक्ति रूप हो गया है । और वह [अनय-पक्ष-अक्षुण्णम्] सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता, निर्बाध है ।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः ।

तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ॥5॥

अन्वयार्थ : [व्यवहरण-नयः] जो व्यवहारनय है वह [यद्यपि] यद्यपि [इह प्राक्-पदव्यां] इस पहली पदवी में (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक) [निहित-पदानां] जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषोंको, [हन्त] अरे रे ! [हस्तावलम्बः] स्यात्]हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, [तद्-अपि] तथापि [चित्-चमत्कार-मात्रं पर-विरहितं परमं अर्थं अन्तः पश्यतां] जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम 'अर्थ' को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसरूप लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं उन्हें [एषः] यह व्यवहारनय [किञ्चित् न] कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है ।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्त्युदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं

तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥6॥

अन्वयार्थ : [अस्य आत्मनः] इस आत्मा को [यद् इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम्] अन्य द्रव्यों से पृथक् देखना (श्रद्धान करना) [एतत् एव नियमात् सम्यग्दर्शनम्]- ही नियम से सम्यग्दर्शन है । यह आत्मा [व्याप्तुः] अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त (रहने वाला) है, और [शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य] शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है तथा [पूर्ण-ज्ञान-घनस्य] पूर्ण ज्ञानघन है । [च] एवं [तावान् अयं आत्मा] जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही यह आत्मा है । [तत्] इसलिए आचार्य प्रार्थना करते हैं कि ''[इमाम् नव-तत्त्व-सन्ततिं मुक्त्वा] इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर, [अयम् आत्मा एकः अस्तु नः] यह आत्मा एक ही हमें प्राप्त हो'' ।

(अनुष्ठुभ)

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।

नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥7॥

अन्वयार्थ : [अतः] तत्पश्चात् [शुद्धनय-आयत्तं] शुद्धनय के आधीन [प्रत्यग्-ज्योतिः] जो भिन्न आत्मज्योति है [तत्] वह [चकास्ति] प्रगट होती है [यद्] कि जो [नव-तत्त्व-गतत्वे अपि] नवतत्त्वों में प्राप्त होने पर भी [एकत्वं] अपने एकत्व को [न मुंचति] नहीं छोड़ती ।

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं

कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।

अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं

प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥8॥

अन्वयार्थ : [इति] इसप्रकार [चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम् आत्मज्योतिः] नवतत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति [उन्नीयमानं] शुद्धनयसे बाहर निकालकर प्रगट की गई है, [वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम् इव] जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं । [अथ] इसलिए अब हे भव्य जीवों ! [सततविविक्तं] इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावों से भिन्न, [एकरूपं] एकरूप [दृश्यताम्] देखो । [प्रतिपदम् उद्योतमानम्] यह (ज्योति), पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्त्वमत्कारमात्र उद्योतमान है ।

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं

क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।

किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मि-

न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥9॥

अन्वयार्थ : [अस्मिन् सर्वकषे धाम्नि अनुभवम् उपयाते] इन समस्त भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय के विषयभूत चैतन्य-चमत्कार मात्र तेजःपुञ्ज आत्मा है, उसका अनुभव होने पर [नयश्रीः न उदयति] नयोंकी लक्ष्मी उदित नहीं होती, [प्रमाणं अस्तम् एति] प्रमाण अस्त हो जाता है [अपि च] और [निक्षेपचक्रम् क्वचित् याति, न विद्मः] निक्षेपों का समूह कहां चाला जाता है सो हम नहीं जानते । [किम् अपरम् अभिदध्मः] इससे अधिक क्या कहें ? [द्वैतम् एव न भाति] द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता ।

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-

मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।

विलीनसंकल्पविकल्पजालं

प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥10॥

अन्वयार्थ : [शुद्धनयः आत्मस्वभावं प्रकाशयन् अभ्युदेति] शुद्धनय आत्मस्वभाव को प्रगट करता हुआ उदयरूप होता है । वह आत्मस्वभाव को [परभावभिन्नम्] परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले अपने विभाव — ऐसे परभावों से भिन्न प्रगट करता है । और वह, [आपूर्णम्] आत्मस्वभाव सम्पूर्णरूप से पूर्ण है — समस्त लोकालोक का ज्ञाता है — ऐसा प्रगट करता है; (क्योंकि ज्ञान में भेद कर्मसंयोग से हैं, शुद्धनय में कर्म गौण हैं) । और वह, [आदि-अन्त-विमुक्तम्] आत्मस्वभाव को आदि-अन्त से रहित प्रगट करता है (अर्थात् किसी आदि से लेकर जो किसी से उत्पन्न नहीं किया गया, और कभी भी किसी से जिसका विनाश नहीं होता, ऐसे पारिणामिक भाव को वह प्रगट करता है) । और वह, [एकम्] आत्मस्वभाव को एक — सर्व भेदभावों से (द्वैतभावों से) रहित एकाकार — प्रगट करता है, और [विलीनसंकल्प-विकल्प-जालं] जिसमें समस्त संकल्प-विकल्प के समूह विलीन हो गये हैं ऐसा प्रगट करता है । (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गलद्रव्यों में अपनी कल्पना करना सो संकल्प है, और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना सो

विकल्प है ।) ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है ।

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी

स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।

अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्

जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥11॥

अन्वयार्थ : [जगत् तम् एव सम्यक्स्वभावम् अनुभवतु] जगत के प्राणीयो! इस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो कि [यत्र] जहाँ [अमी बद्धस्पृष्टभावादयः] यह बद्धस्पृष्टादिभाव [एत्य स्फुटम् उपरि तरन्तः अपि] स्पष्टतया उस स्वभावके ऊपर तरते हैं तथापि वे [प्रतिष्ठाम् न हि विदधति] (उसमें) प्रतिष्ठा नहीं पाते, क्योंकि द्रव्यस्वभाव तो नित्य है, एकरूप है और यह भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं; पर्यायें द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती, ऊपर ही रहती हैं । [समन्तात् द्योतमानं] यह शुद्ध स्वभाव सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है । [अपगतमोहीभूय] ऐसे शुद्ध स्वभाव का, मोह रहित होकर जगत अनुभव करो; क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जहां तक रहता है वहां तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता ।

(शार्दूलविक्रीडित)

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-

र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् ।

आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं

नित्यं कर्मकलंकं पंकं विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥12॥

अन्वयार्थ : [यदि] यदि [कः अपि सुधीः] कोई सुबुद्धि (सम्यग्दृष्टि) जीव [भूतं भान्तम् अभूतम् एव बन्धं] भूत, वर्तमान और भविष्य — तीनों काल के कर्मबन्ध को अपने आत्मा से [रभसात्] तत्काल – शीघ्र [निर्भिद्य] भिन्न करके तथा [मोहं] उस कर्मोदय के निमित्त से होनेवाले मिथ्यात्व (अज्ञान) को [हठात्] अपने बल से (पुरुषार्थ से) [व्याहृत्य] रोककर अथवा नाश करके [अन्तः] अन्तरङ्गमें [किल अहो कलयति] अभ्यास करे — देखे तो [अयम् आत्मा] यह आत्मा [आत्म-अनुभव-एक-गम्य महिमा] अपने अनुभवसे ही जानने योग्य जिसकी प्रगट महिमा है ऐसा [व्यक्तः] व्यक्त (अनुभवगोचर), [ध्रुवं] निश्चल, [शाश्वतः] शाश्वत, [नित्यं कर्म-कलङ्क-पङ्क-विकलः] नित्य कर्मकलङ्क-कर्दम से रहित — [स्वयं देवः] स्वयं ऐसा स्तुति करने योग्य देव [आस्ते] विराजमान है ।

(वसंततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या

ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।

आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-

मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥13॥

अन्वयार्थ : [इति] इसप्रकार [या शुद्धनयात्मिका आत्म-अनुभूतिः] जो पूर्वकथित शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है [इयम् एव किल ज्ञान-अनुभूतिः] वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है [इति बुद्ध्वा] यह जानकर तथा [आत्मनि आत्मानम् सुनिष्प्रकम्पम् निवेश्य] आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके, [नित्यम् समन्तात् एकः अवबोध-घनः अस्ति] 'सदा सर्व ओर एक ज्ञानघन आत्मा है' इसप्रकार देखना चाहिये ।

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-

र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।

चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते

यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥14॥

अन्वयार्थ : [परमम् महः नः अस्तु] हमें वह उत्कृष्ट तेज-प्रकाश प्राप्त हो [यत् सकलकालम् चिद्-उच्छलन-निर्भरं] कि जो तेज सदाकाल चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है, [उल्लसत्-लवण-खिल्य-लीलायितम्] जैसे नमक की डली एक क्षाररसकी लीला का आलम्बन करती है, उसीप्रकार जो तेज [एक-रसम् आलम्बते] एक ज्ञानरसस्वरूप का आलम्बन करता है; [अखण्डितम्] जो तेज अखण्डित है — जो ज्ञेयोंके आकाररूप खण्डित नहीं होता, [अनाकुलं] जो अनाकुल है — जिसमें कर्मों के निमित्त से होनेवाले रागादि से उत्पन्न आकुलता नहीं है, [अनन्तम् अन्तः बहिः ज्वलत्] जो अविनाशीरूप से अन्तरङ्ग में और बाहर में प्रगट दैदीप्यमान है — जानने में आता है, [सहजम्] जो स्वभावसे हुआ है — जिसे किसीने नहीं रचा और [सदा उद्विलासं] सदा जिसका विलास उदयरूप है — जो एकरूप प्रतिभासमान है ।

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।

साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥15॥

अन्वयार्थ : [एषः ज्ञानघनः आत्मा] यह (पूर्वकथित) ज्ञान स्वरूप आत्मा, [सिद्धिम् अभीप्सुभिः] स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुषों को [साध्यसाधकभावेन] साध्यसाधकभाव के भेद से [द्विधा] दो प्रकार से, [एकः] एक ही [नित्यम् समुपास्यताम्] नित्य सेवन करने योग्य है; उसका सेवन करो ।

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।

मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥16॥

अन्वयार्थ : [प्रमाणतः] प्रमाणदृष्टि से देखा जाये तो [आत्मा] यह आत्मा [समम् मेचकः अमेचकः च अपि] एक ही साथ अनेक अवस्थारूप ('मेचक') भी है और एक अवस्था रूप ('अमेचक') भी है, [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रित्वात्] क्योंकि इसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तो त्रित्व (तीनपना) है और [स्वयम् एकत्वतः] अपने से अपने को एकत्व है ।

(अनुष्टुभ्)

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।

एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥17॥

अन्वयार्थ : [एकः अपि] आत्मा एक है, तथापि [व्यवहारेण] व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो [त्रिस्वभावत्वात्] तीन-स्वभावरूपता के कारण [मेचकः] अनेकाकाररूप ('मेचक') है, [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः] क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र -- इन तीन भावोंरूप परिणमन करता है ।

(अनुष्टुभ्)

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।

सर्वभावान्तर-ध्वंसि-स्वभावत्वादमेचकः ॥18॥

अन्वयार्थ : [परमार्थेन तु] शुद्ध निश्चयनय से देखा जाये तो [व्यक्त-ज्ञातृत्व-ज्योतिषा] प्रगट ज्ञायकत्व-ज्योतिमात्र से [एककः] आत्मा एकस्वरूप है, [सर्व-भावान्तर-ध्वंसि-स्वभाव-त्वात्] क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिक नय से सर्व अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से होनेवाले विभावों को दूर करनेरूप उसका स्वभाव है, इसलिये वह [अमेचकः] 'अमेचक' है -- शुद्ध एकाकार है ।

(अनुष्टुभ्)

आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।

दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥19॥

अन्वयार्थ : [आत्मनः] यह आत्मा [मेचक-अमेचकत्वयोः] मेचक है -- भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है -- अभेदरूप एकाकार है [चिन्तया एव अलं] ऐसी चिन्ता से तो बस हो । [साध्यसिद्धिः] साध्य आत्मा की सिद्धि तो [दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः] दर्शन, ज्ञान और चारित्र -- इन तीन भावोंसे ही होती है, [न च अन्यथा] अन्य प्रकारसे नहीं (यह नियम है) ।

(मालिनी)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया

अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।

सतत-मनुभवामोऽनन्त-चैतन्य-चिह्नं

न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥20॥

अन्वयार्थ : [अनन्तचैतन्यचिह्नं] अनन्त (अविनश्वर) चैतन्य जिसका चिह्न है ऐसी [इदम् आत्मज्योतिः] इस आत्मज्योति का [सततम् अनुभवामः] हम निरन्तर अनुभव करते हैं, [यस्मात्] क्योंकि [अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु] उसके अनुभव के बिना अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती । वह आत्मज्योति ऐसी है कि [कथम् अपि समुपात्तत्रित्वम् अपि एकतायाः अपतितम्] जिसने किसी प्रकार से त्रित्व अङ्गीकार किया है तथापि जो एकत्वसे च्युत नहीं हुई और [अच्छम् उद्गच्छत्] जो निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है ।

(मालिनी)

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-

मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।

प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-

र्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव ॥21॥

अन्वयार्थ : [ये] जो पुरुष [स्वतः वा अन्यतः वा] अपने ही अथवा पर के उपदेश से [कथम् अपि हि] किसी भी प्रकार से [भेदविज्ञानमूलाम्] भेदविज्ञान जिसका मूल उत्पत्ति कारण है ऐसी अपने आत्मा की [अचलितम्] अविचल [अनुभूतिम्] अनुभूति को [लभन्ते] प्राप्त करते हैं, [ते एव] वे ही पुरुष [मुकुरवत्] दर्पण की भांति [प्रतिफलन-निमग्न-अनन्त-भाव-स्वभावैः] अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्त भावों के स्वभावों से [सन्ततं] निरन्तर [अविकाराः] विकाररहित [स्युः] होते हैं, — ज्ञानमें जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते ।

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं

रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।

इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः

किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥22॥

अन्वयार्थ : [जगत्] जगत् अर्थात् जगत् के जीवो ! [आजन्मलीनं मोहम्] अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को [इदानीं त्यजतु] अब तो छोड़ो और [रसिकानां रोचनं] रसिकजनों को रुचिकर, [उद्यत् ज्ञानम्] उदय हुआ जो ज्ञान उसको [रसयतु] आस्वादन करो; क्योंकि [इह] इस लोक में [आत्मा] आत्मा [किल] वास्तव में [कथम् अपि] किसीप्रकार भी [अनात्मना साकम्] अनात्मा (परद्रव्य) के साथ [क्व अपि काले] कदापि [तादात्म्यवृत्तिम् कलयति न] तादात्म्यवृत्ति (एकत्व) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि [एकः] आत्मा एक है वह अन्यद्रव्यके साथ एकतारूप नहीं होता ।

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्

अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।

पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन

त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥23॥

अन्वयार्थ : [अयि] 'अयि' यह कोमल सम्बोधन का सूचक अव्यय है । आचार्यदेव कोमल सम्बोधन से कहते हैं कि हे भाई ! तू [कथम् अपि] किसीप्रकार महा कष्ट से अथवा [मृत्वा] मरकर भी [तत्त्वकौतूहली सन्] तत्त्वों का कौतूहली होकर [मूर्तेः मुहूर्तम् पार्श्ववर्ती भव] इस शरीरादि मूर्त द्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर [अनुभव] आत्मा का अनुभव कर [अथ येन] कि जिससे [स्वं विलसन्तं] अपने

आत्मा के विलासरूप को, [पृथक्] सर्व परद्रव्यों से भिन्न [समालोक्य] देखकर [मूर्त्या साकम्] इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ [एकत्वमोहम्] एकत्व के मोह को [झगिति त्यजसि] शीघ्र ही छोड़ देगा ।

(शार्दूलविक्रीडित)

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये

धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।

दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं

वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥24॥

अन्वयार्थ : [ते तीर्थेश्वराः सूरयः वन्द्याः] वे तीर्थकर-आचार्य वन्दनीय हैं । कैसे हैं वे ? [ये कान्त्या एव दशदिशः स्नपयन्ति] अपने शरीर की कान्तिसे दसों दिशाओं को धोते(निर्मल करते) हैं, [ये धाम्ना उद्दाम-महस्विनां धाम निरुन्धन्ति] अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादि के तेज को ढक देते हैं, [ये रूपेण जनमनः मुष्णन्ति] अपने रूप से लोगों के मन को हर लेते हैं, [दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः] दिव्यध्वनिसे (भव्योंके) कानों में साक्षात् सुखामृत बरसाते हैं और वे [अष्टसहस्रलक्षणधराः] एक हजार आठ लक्षणों के धारक हैं ।

(आर्या)

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।

पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥25॥

अन्वयार्थ : [इदं नगरम् हि] यह नगर ऐसा है कि जिसने [प्राकार-कवलित-अम्बरम्] कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है (अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है), [उपवन-राजी-निगीर्ण-भूमितलम्] बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है (अर्थात् चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढक गई है) और [परिखावलयेन पातालम् पिबति इव] कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है) ।

(आर्या)

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।

अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥26॥

अन्वयार्थ : [जिनेन्द्ररूपं परं जयति] जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, [नित्यम्-अविकार-सुस्थित-सर्वाङ्गम्] जिसमें सभी अङ्ग सदा अविकार और सुस्थित हैं, [अपूर्व-सहज-लावण्यम्] जिसमें (जन्म से ही) अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है (जो सर्वप्रिय है) और [समुद्रं इव अक्षोभम्] जो समुद्र की भांति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-

नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।

स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्तुत्यैव सैवं भवे-

न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥27॥

अन्वयार्थ : [कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं] शरीर और आत्मा के व्यवहारनयसे एकत्व है, [तु पुनः] किन्तु [निश्चयात् न] निश्चयनय से नहीं है; [वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं व्यवहारतः अस्ति] इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहलाता है, [तत्त्वतः तत् न] निश्चयनय से नहीं; [निश्चयतः] निश्चय से तो [चित्तुत्यैव एव] चैतन्य के स्तवन से ही [चितः स्तोत्रं भवति] चैतन्य का स्तवन होता है । [सा एवं भवेत्] उस चैतन्य का स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह - इत्यादिरूप से कहा वैसा है । [अतः तीर्थकरस्तवोत्तरबलात्] अज्ञानी ने तीर्थकर के स्तवन का जो प्रश्न किया था, उसका इसप्रकार नयविभाग से उत्तर दिया है; जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि [आत्म-अङ्गयोः एकत्वं न] आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है ।

(मालिनी)

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥28॥

अन्वयार्थ : [परिचित-तत्त्वैः] जिन्होंने वस्तु के यथार्थ स्वरूप को परिचयरूप किया है ऐसे मुनियों ने [आत्म-काय-एकतायां] जब आत्मा और शरीर के एकत्व को [इति नय-विभजन-युक्त्या] इस प्रकार नयविभाग को युक्ति के द्वारा [अत्यन्तम् उच्छादितायाम्] जड़मूल से उखाड़ फेंका है (उसका अत्यन्त निषेध किया है), तब अपने [स्व-रस-रभस-कृष्टः प्रस्फुटन् एकः एव] निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रगट होनेवाले एक स्वरूप होकर [कस्य] किस पुरुष को वह [बोधः] ज्ञान [अद्य एव] तत्काल ही [बोधं] यथार्थपने को [न अवतरति] प्राप्त न होगा ?

(मालिनी)

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥29॥

अन्वयार्थ : [अपर-भाव-त्याग-दृष्टान्त-दृष्टिः] यह परभाव के त्याग के दृष्टान्तकी दृष्टि, [अनवम् अत्यन्त-वेगात् यावत् वृत्तिम् न अवतरति] पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेग से जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, [तावत्] उससे पूर्व ही [झटिति] तत्काल [सकल-भावैः अन्यदीयैः विमुक्ता] सकल अन्यभावों से रहित [स्वयम् इयम् अनुभूतिः] स्वयं ही यह अनुभूति तो [आविर्बभूव] प्रगट हो जाती है ।

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः
शुद्धचिद्धनमहोनिधिरस्मि ॥30॥

अन्वयार्थ : [इह] इस लोक में [अहं] मैं [स्वयं] स्वतः ही [एकं स्वं] अपने एक आत्मस्वरूप का [चेतये] अनुभव करता हूँ [सर्वतः स्व-रस-निर्भर-भावं] कि जो स्वरूप सर्वतः अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए भाववाला है; इसलिये यह [मोहः] मोह [मम] मेरा [कश्चन नास्ति नास्ति] कुछ भी नहीं लगता नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है । [शुद्ध-चिद्-घन-महः-निधिः अस्मि] मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुंज का निधि हूँ ।

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटित-परमार्थैर्दर्शन-ज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥31॥

अन्वयार्थ : [इति] इसप्रकार पूर्वोक्तरूप से भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब [सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति] सर्व अन्यभावोंसे जब भिन्नता हुई तब [अयं उपयोगः] यह उपयोग [स्वयं] स्वयं ही [एकं आत्मानम्] अपने एक आत्माको ही [बिभ्रत्] धारण करता हुआ, [प्रकटितपरमार्थैः दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः] जिनका परमार्थ प्रगट हुआ है ऐसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र से जिसने परिणति की है ऐसा [आत्म-आरामे एव प्रवृत्तः] अपने आत्मारूपी बाग (क्रीड़ावन) में ही प्रवृत्ति करता है, अन्यत्र नहीं जाता ।

(वसन्ततिलका)

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका

आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥32॥

अन्वयार्थ : [एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः] यह ज्ञानसमुद्र भगवान् आत्मा [विभ्रम-तिरस्करिणीं भरेण आप्लाव्य] विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डूबोकर (दूर करके) [प्रोन्मग्नः] स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; [अमी समस्ताः लोकाः] इसलिये अब समस्त लोक [शान्तरसे] उसके शान्त रस में [समम् एव] एक साथ ही [निर्भरम्] अत्यन्त [मज्जन्तु] मग्न हो जाओ, कि जो शान्त रस [आलोकम् उच्छलति] समस्त लोक पर्यन्त उछल रहा है।

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥33॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानं] ज्ञान है वह [मनो ह्लादयत्] मन को आनन्दरूप करता हुआ [विलसति] प्रगट होता है । वह [पार्षदान्] जीव-अजीव के स्वांग को देखनेवाले महापुरुषों के [जीव-अजीव-विवेक-पुष्कल-दृशा] जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा [प्रत्याययत्] भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है । [आसंसार-निबद्ध-बन्धन-विधि-ध्वंसात्] अनादि संसार से जिनका बन्धन दृढ़ बन्धा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से [विशुद्धं] विशुद्ध हुआ है, [स्फु टत्] स्फुट हुआ है — जैसे फूल की कली खिलती है उसीप्रकार विकासरूप है । और [आत्म-आरामम्] उसका रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं तथापि वह स्वयं अपने स्वरूप में ही रमता है; [अनन्तधाम] उसका प्रकाश अनन्त है; और वह [अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं] प्रत्यक्ष तेजसे नित्य उदयरूप है । तथा वह [धीरोदात्तम्] धीर है, उदात्त (उच्च) है और इसीलिए [अनाकुलं] अनाकुल है — सर्व इच्छाओं से रहित निराकुल है । (यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल — यह तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना ।) ऐसा ज्ञान विलास करता है ।

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्विन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥34॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तुझे [अपरेण] अन्य [अकार्य-कोलाहलेन] व्यर्थ ही कोलाहल करने से [किम्] क्या लाभ है ? तू [विरम] इस कोलाहल से विरक्त हो और [एकम्] एक चैतन्यमात्र वस्तु को [स्वयम् अपि] स्वयं [निभृतः सन्] निश्चल लीन होकर [पश्य षण्मासम्] देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करनेसे [हृदय-सरसि] अपने हृदय सरोवर में, [पुद्गलात् विन्नधाम्नः] जिसका तेज-प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे उस [पुंसः] आत्मा की [ननु किम् अनुपलब्धिः भाति] प्राप्ति नहीं होती है [किं च उपलब्धिः] या होती है ?

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्वाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥35॥

अन्वयार्थ : [चित्-शक्ति -रिक्तं] चित्शक्ति से रहित [सकलम् अपि] अन्य समस्त भावों को [अह्वाय] मूल से [विहाय] छोड़कर [च] और

[स्फुटरूपम्] प्रगटरूप से [स्वं चित्-शक्तिमात्रम्] अपने चित्शक्तिमात्र भाव का [अवगाह्य] अवगाहन करके, [आत्मा] भव्यात्मा [विश्वस्य उपरि] समस्त पदार्थ समूहरूप लोक के ऊपर [चारु चरन्तं] सुन्दर रीति से प्रवर्तमान ऐसे [इमम्] यह [परम्] एकमात्र [अनन्तम्] अविनाशी [आत्मानम्] आत्मा का [आत्मनि] आत्मा में ही [साक्षात् कलयतु] अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो ।

(अनुष्ठुभ)

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।

अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥36॥

अन्वयार्थ : [चित्-शक्ति -व्याप्त-सर्वस्व-सारः] चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है ऐसा [अयम् जीवः] यह जीव [इयान्] इतना मात्र ही है; [अतः अतिरिक्ताः] इस चित्शक्ति से शून्य [अमी भावाः] जो ये भाव हैं [सर्वे अपि] वे सभी [पौद्गलिकाः] पुद्गलजन्य हैं -- पुद्गलके ही हैं ।

(शालिनी)

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा

भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः

तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी

नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥37॥

अन्वयार्थ : [वर्ण-आद्याः] जो वर्णादिक [वा] अथवा [राग-मोह-आदयः वा] रागमोहादिक [भावाः] भाव कहे [सर्वे एव] वे सब ही [अस्य पुंसः] इस पुरुष (आत्मा) से [भिन्नाः] भिन्न हैं, [तेन एव] इसलिये [अन्तःतत्त्वतः पश्यतः] अन्तर्दृष्टि से देखनेवाले को [अमी नो दृष्टाः स्युः] यह सब दिखाई नहीं देते, [एकं परं दृष्टं स्यात्] मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है -- केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है ।

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्

तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।

रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं

पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥38॥

अन्वयार्थ : [येन] जिस वस्तुसे [अत्र यद् किञ्चित् निर्वर्त्यते] जो भाव बने, [तत्] वह भाव [तद् एव स्यात्] वह वस्तु ही है, [कथंचन] किसी भी प्रकार [अन्यत् न] अन्य वस्तु नहीं है; [इह] जैसे जगत में [रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं] स्वर्ण निर्मित म्यान को [रुक्मं पश्यन्ति] लोग स्वर्ण ही देखते हैं, (उसे) [कथंचन] किसी प्रकार से [न असिम्] तलवार नहीं देखते ।

(उपजाति)

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु

निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।

ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा

यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥39॥

अन्वयार्थ : अहो ज्ञानीजनों ! [इदं वर्णादिसामग्र्यम्] ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव हैं उन समस्त को [एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्] एक पुद्गल की ही रचना [विदन्तु] जानो; [ततः] इसलिये [इदं] यह भाव [पुद्गलः एव अस्तु] पुद्गल ही हों, [न आत्मा] आत्मा न हों; [यतः] क्योंकि [सः विज्ञानघनः] आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है, [ततः] इसलिये [अन्यः] वह इन वर्णादिक भावों से अन्य ही है ।

(अनुष्ठुभ)

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।

जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥40॥

अन्वयार्थ : [चेत्] यदि [घृतकुम्भाभिधाने अपि] 'घी का घड़ा' ऐसा कहने पर भी [कुम्भः घृतमयः न] घड़ा है वह घीमय नहीं है (— मिट्टीमय ही है), [वर्णादिमत्-जीवजल्पने अपि] तो इसीप्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहने पर भी [जीवः न तन्मयः] जीव है वह वर्णादिमय नहीं है (-ज्ञानघन ही है)।

(अनुष्टुभ्)

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।

जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥41॥

अन्वयार्थ : [अनादि] जो अनादि है, [अनन्तम्] अनन्त है, [अचलं] अचल है, [स्वसंवेद्यम्] स्वसंवेद्य है [तु] और [स्फुटम्] प्रगट है — ऐसा जो [इदं चैतन्यम्] यह चैतन्य [उच्चैः] अत्यन्त [चकचकायते] चकचकित - प्रकाशित हो रहा है, [स्वयं जीवः] वह स्वयं ही जीव है । (शार्दूलविक्रीडित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो

नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।

इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा

व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥42॥

अन्वयार्थ : [यतः अजीवः अस्ति द्वेधा] अजीव दो प्रकार के हैं — [वर्णाद्यैः सहितः] वर्णादिसहित [तथा विरहितः] और वर्णादिरहित; [ततः] इसलिये [अमूर्तत्वम् उपास्य] अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी (अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी) [जीवस्य तत्त्वं] जीव के यथार्थ स्वरूप को [जगत् न पश्यति] जगत् नहीं देख सकता; -- [इति आलोच्य] इसप्रकार परीक्षा करके [विवेचकैः] भेदज्ञानी पुरुषों ने [न अव्यापि अतिव्यापि वा] अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित [चैतन्यम्] चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है [समुचितं] वह योग्य है । [व्यक्तं] वह चैतन्य लक्षण प्रगट है, [व्यञ्जित-जीव-तत्त्वम्] उसने जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है और [अचलं] वह अचल है -- चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है। [आलम्ब्यताम्] जगत् उसी का अवलम्बन करो ! (उससे यथार्थ जीवका ग्रहण होता है।) (वसन्ततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं

ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।

अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं

मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥43॥

अन्वयार्थ : [इति लक्षणतः] यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण [जीवात् अजीवम् विभिन्नं] जीव से अजीव भिन्न है [स्वयम् उल्लसन्तम्] उसे (अजीव को) अपने आप ही (स्वतन्त्रपने, जीव से भिन्नपने) विलसित हुआ (परिणमित होता हुआ) [ज्ञानी जनः] ज्ञानीजन [अनुभवति] अनुभव करते हैं, [तत्] तथापि [अज्ञानिनः] अज्ञानी को [निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु] अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह (अर्थात् स्व-परके एकत्व की भ्रान्ति) [कथम् नानटीति] क्यों नाचता है -- [अहो बत] यह हमें महा-आश्चर्य और खेद है ! (वसन्ततिलका)

अस्मिन्नादिनि महत्यविवेकनाट्ये

वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।

रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-

चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥44॥

अन्वयार्थ : [अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाट्ये] इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में [वर्णादिमान् पुद्गलः एव नटति] वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, [न अन्यः] अन्य कोई नहीं; (अभेद ज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव तो अनेक प्रकार का नहीं है;) [च] और [अयं जीवः] यह जीव तो [रागादि-पुद्गल-विकार-विरुद्ध-शुद्ध-चैतन्यधातुमय-मूर्तिः] रागादिक पुद्गल-

विकारोंसे विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा

जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।

विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या

ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥45॥

अन्वयार्थ : [इत्थं] इसप्रकार [ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं] ज्ञानरूपी करवत का जो बारम्बार अभ्यास है उसे [नाटयित्वा] नचाकर [यावत्] जहाँ [जीवाजीवौ] जीव और अजीव दोनों [स्फुट-विघटनं] न एव प्रयातः] प्रगटरूपसे अलग नहीं हुए, [तावत्] वहाँ तो [ज्ञातृद्रव्यम्] ज्ञाता-द्रव्य, [प्रसभ-विकसत्-व्यक्त -चिन्मात्रशक्त्या] अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से [विश्वं व्याप्य] विश्व को व्याप्त करके, [स्वयम्] अपने आप ही [अतिरसात्] अतिवेग से [उच्चैः] उग्रतया अर्थात् आत्यन्तिकरूप से [चकाशे] प्रकाशित हो उठा।

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी

इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।

ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं

साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥46॥

अन्वयार्थ : '[इह] इस लोक में [अहम् चिद्] मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो [एकः कर्ता] एक कर्ता हूँ और [अमी कोपादयः] यह क्रोधादि भाव [मे कर्म] मेरे कर्म हैं' [इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिम्] ऐसी अज्ञानियों के जो कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है उसे [अभितः शमयत्] सब ओर से शमन करती हुई (मिटती हुई) [ज्ञानज्योतिः] ज्ञानज्योति [स्फुरति] स्फुरायमान होती है । वह ज्ञान-ज्योति [परम-उदात्तम्] परम उदात्त है अर्थात् किसी के आधीन नहीं है, [अत्यन्तधीरं] अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकार से आकुलतारूप नहीं है और [निरुपधि-पृथग्द्रव्य-निर्भासि] पर की सहायता के बिना-भिन्न भिन्न द्रव्यों को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है, इसलिये [विश्वम् साक्षात् कुर्वत्] वह समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है (प्रत्यक्ष जानती है) ।

(मालिनी)

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-

निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।

ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-

रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥47॥

अन्वयार्थ : [परपरिणतिम् उज्झत्] परपरिणति को छोड़ता हुआ, [भेदवादान् खण्डयत्] भेद के कथनोंको तोड़ता हुआ, [इदम् अखण्डम् उच्चण्डम् ज्ञानम्] यह अखण्ड और अत्यन्त प्रचण्ड ज्ञान [उच्चैः उदितम्] प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है । [ननु] अहो ! [इह] ऐसे ज्ञान में [कर्तृकर्मप्रवृत्तिः] (परद्रव्यके) कर्ताकर्म की प्रवृत्ति का [कथम् अवकाशः] अवकाश कैसे हो सकता है ? [वा] तथा [पौद्गलः कर्मबन्धः] पौद्गलिक कर्मबंध भी [कथं भवति] कैसे हो सकता है ?

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां

स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।

अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं

ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥48॥

अन्वयार्थ : [इति एवं] इसप्रकार पूर्वकथित विधानसे, [सम्प्रति] अधुना (तत्काल) ही [परद्रव्यात्] परद्रव्य से [परां निवृत्तिं विरचय्य]

उत्कृष्ट (सर्व प्रकार से) निवृत्ति करके, [विज्ञानघनस्वभावम् परम् स्वं अभयात् आस्तिघ्नुवानः] विज्ञानघनस्वभावरूप केवल अपने पर निर्भयता से आरूढ होता हुआ अर्थात् अपना आश्रय करता हुआ (अथवा अपने को निःशंकतया आस्तिक्यभाव से स्थिर करता हुआ), [अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशात्] अज्ञान से उत्पन्न हुई कर्ताकर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से उत्पन्न क्लेश से [निवृत्तः] निवृत्त हुआ, [स्वयं ज्ञानीभूतः] स्वयं ज्ञानस्वरूप होता हुआ, [जगतः साक्षी] जगत का साक्षी (ज्ञाताद्रष्टा), [पुराणः पुमान्] पुराण पुरुष (आत्मा) [इतः चकास्ति] अब यहाँ से प्रकाशमान होता है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि

व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।

इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दंस्तमो

ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥49॥

अन्वयार्थ : [व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत्] व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, [अतदात्मनि अपि न एव] अतत्स्वरूप में नहीं ही होती । और [व्याप्यव्यापकभावसम्भवम् ऋते] व्याप्यव्यापकभाव के सम्भव बिना [कर्तृकर्मस्थितिः का] कर्ताकर्म की स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती । [इति उद्दाम-विवेक-घस्मर-महोभारेण] ऐसे प्रबल विवेकरूप, और सबको ग्रासीभूत करने के स्वभाववाले ज्ञानप्रकाश के भार से [तमः भिन्दन्] अज्ञानांधकार को भेदता हुआ, [सः एषः पुमान्] यह आत्मा [ज्ञानीभूय] ज्ञानस्वरूप होकर, [तदा] उस समय [कर्तृत्वशून्यः लसितः] कर्तृत्वरहित हुआ शोभित होता है।

(स्रग्धरा)

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्

व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।

अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्

विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥50॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी तो [इमां स्वपरपरिणति] अपनी और पर की परिणति को [जानन् अपि] जानता हुआ प्रवर्तता है [च] और [पुद्गलः अपि अजानन्] पुद्गलद्रव्य अपनी तथा पर की परिणति को न जानता हुआ प्रवर्तता है; [नित्यम् अत्यन्त-भेदात्] इसप्रकार उनमें सदा अत्यन्त भेद होने से (दोनों भिन्न द्रव्य होने से), [अन्तः] वे दोनों परस्पर अन्तरङ्ग में [व्याप्तृव्याप्यत्वम्] व्याप्यव्यापकभाव को [कलयितुम् असहौ] प्राप्त होने में असमर्थ हैं । [अनयोः कर्तृकर्मभ्रममतिः] जीव-पुद्गल को कर्ताकर्मभाव है ऐसी भ्रमबुद्धि [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण [तावत् भाति] वहाँ तक भासित होती है कि [यावत्] जहाँ तक [विज्ञानार्चिः] (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति [क्रकचवत् अदयं] करवत की भाँति निर्दयता से (उग्रतासे) [सद्यः भेदम् उत्पाद्य] जीव-पुद्गल का तत्काल भेद उत्पन्न कर के [न चकास्ति] प्रकाशित नहीं होती ।

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।

या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥51॥

अन्वयार्थ : [यः परिणमति स कर्ता] जो परिणमित होता है सो कर्ता है, [यः परिणामः भवेत् तत् कर्म] (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है सो कर्म है [तु] और [या परिणतिः सा क्रिया] जो परिणति है सो क्रिया है; [त्रयम् अपि] यह तीनों ही, [वस्तुतया भिन्नं न] वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं ।

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।

एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥52॥

अन्वयार्थ : [एकः परिणमति सदा] वस्तु एक ही सदा परिणमित होती है, [एकस्य सदा परिणामः जायते] एक का ही सदा परिणाम होता

है (अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था एक की ही होती है) और [एकस्य परिणतिः स्यात्] एक की ही परिणति -- क्रिया होती है; [यतः] क्योंकि [अनेकम् अपि एकम् एव] अनेकरूप होने पर भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है ।

(आर्या)

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।

उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥53॥

अन्वयार्थ : [न उभौ परिणमतः खलु] दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, [उभयोः परिणामः न प्रजायेत] दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता और [उभयोः परिणति न स्यात्] दो द्रव्यों की एक परिणति -- क्रिया नहीं होती; [यत्] क्योंकि जो [अनेकम् सदा अनेकम् एव] अनेक द्रव्य हैं सो सदा अनेक ही हैं, वे बदलकर एक नहीं हो जाते ।

(आर्या)

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।

नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥54॥

अन्वयार्थ : [एकस्य हि द्वौ कर्तारौ न स्तः] एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, [च] और [एकस्य द्वे कर्मणी न] एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते [च] तथा [एकस्य द्वे क्रिये न] एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होती; [यतः] क्योंकि [एकम् अनेकं न स्यात्] एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता ।

(शार्दूलविक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-

र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।

तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्

तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥55॥

अन्वयार्थ : [इह] इस जगत्में [मोहिनाम्] मोही (अज्ञानी) जीवों का '[परं अहम् कुर्वे] परद्रव्य को मैं करता हूँ' [इति महाहंकाररूपं तमः] ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार [ननु उच्चकैः दुर्वारं] जो अत्यन्त दुर्निवार है वह [आसंसारतः एव धावति] अनादि संसार से चला आ रहा है । [अहो] अहो ! [भूतार्थपरिग्रहेण] परमार्थनय का अर्थात् शुद्धद्रव्यार्थिक अभेदनय का ग्रहण करने से [यदि] यदि [तत् एकवारं विलयं व्रजेत्] वह एक बार भी नाश को प्राप्त हो [तत्] तो [ज्ञानघनस्य आत्मनः] ज्ञानघन आत्मा को [भूयः] पुनः [बन्धनम् किं भवेत्] बन्धन कैसे हो सकता है ?

(अनुष्टुभ्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।

आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥56॥

अन्वयार्थ : [आत्मा] आत्मा तो [सदा] सदा [आत्मभावान्] अपने भावों को [करोति] करता है और [परः] परद्रव्य [परभावान्] पर के भावों को करता है; [हि] क्योंकि जो [आत्मनः भावाः] अपने भाव हैं सो तो [आत्मा एव] आप ही है और जो [परस्य ते] पर के भाव हैं सो [परः एव] पर ही है ।

(वसन्ततिलका)

अज्ञानतस्तु सत्तृणाभ्यवहारकारी

ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।

पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृह्यया

गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥57॥

अन्वयार्थ : [किल] निश्चय से [स्वयं ज्ञानं भवन् अपि] स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी [अज्ञानतः तु] अज्ञान के कारण [यः] जो जीव [सत्तृणाभ्यवहारकारी] घास के साथ एकमेक हुए सुन्दर भोजन को खानेवाले हाथी आदि पशुओं की भाँति, [रज्यते] राग करता है (राग

का और अपना मिश्र स्वाद लेता है) [असौ] वह, [दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृह्यया] श्रीखंड के खट्टे-मीठे स्वाद की अति लोलुपता से [रसालम् पीत्वा] श्रीखण्ड को पीता हुआ भी [गां दुग्धम् दोग्धि इव नूनम्] स्वयं गाय का दूध पी रहा है ऐसा माननेवाले पुरुष के समान है।

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा

अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।

अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्

शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥58॥

अन्वयार्थ : [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण [मृगतृष्णिकां जलधिया] मृगमरीचिका में जल की बुद्धि होने से [मृगाः पातुं धावन्ति] हिरण उसे पीने को दौड़ते हैं; [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण ही [तमसि रज्जौ भुजगाध्यासेन] अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प का अध्यास होने से [जनाः द्रवन्ति] लोग (भयसे) भागते हैं; [च] और (इसीप्रकार) [अज्ञानात्] अज्ञान के कारण [अमी] ये जीव, [वातोत्तरंगाब्धिवत्] पवन से तरंगित समुद्र की भाँति [विकल्पचक्रकरणात्] विकल्पों के समूह को करने से [शुद्धज्ञानमयाः अपि] यद्यपि वे स्वयं शुद्धज्ञानमय हैं तथापि [आकुलाः] आकुलित होते हुए [स्वयम्] अपने आप ही [कर्त्रीभवन्ति] कर्ता होते हैं ।

(वसन्ततिलका)

ज्ञानाद्विवेकतया तु परात्मनोर्यो

जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।

चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो

जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥59॥

अन्वयार्थ : [हंसः वाःपयसोः इव] जैसे हंस दूध और पानी के विशेष-(अन्तर)को जानता है उसीप्रकार [यः] जो जीव [ज्ञानात्] ज्ञान के कारण [विवेकतया] विवेकवाला (भेदज्ञानवाला) होने से [परात्मनोः तु] पर के और अपने [विशेषम्] विशेष को [जानाति] जानता है [सः] वह (जैसे हंस मिश्रित हुए दूध और पानी को अलग कर के दूधको ग्रहण करता है उसीप्रकार) [अचलं चैतन्यधातुम्] अचल चैतन्यधातु में [सदा] सदा [अधिरूढः] आरूढ़ होता हुआ (उसका आश्रय लेता हुआ) [जानीत एव हि] मात्र जानता ही है, [किञ्चन अपि न करोति] किञ्चित्मात्र भी कर्ता नहीं होता ।

(मन्दाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था

ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।

ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः

क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥60॥

अन्वयार्थ : [ज्वलन-पयसोः औष्ण्य-शैत्य-व्यवस्था] (गर्म पानी में) अग्नि की उष्णता का और पानी की शीतलता का भेद [ज्ञानात् एव] ज्ञान से ही प्रगट होता है । [लवणस्वादभेदव्युदासः ज्ञानात् एव उल्लसति] नमक के स्वादभेद का निरसन (निराकरण, अस्वीकार, उपेक्षा) ज्ञान से ही होता है (अर्थात् ज्ञानसे ही व्यंजनगत नमक का सामान्य स्वाद उभर आता है और स्वाद का स्वादविशेष निरस्त होता है)। [स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः च क्रोधादेः भिदा] निज रस से विकसित होनेवाली नित्य चैतन्यधातु का और क्रोधादि भावों का भेद, [कर्तृभावम् भिन्दती] कर्तृत्व को (कर्तापन के भाव को) भेदता हुआ (तोड़ता हुआ), [ज्ञानात् एव प्रभवति] ज्ञान से ही प्रगट होता है ।

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।

स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥61॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [अञ्जसा] वास्तव में [आत्मानम्] अपने को [अज्ञानं ज्ञानम् अपि] अज्ञानरूप या ज्ञानरूप [कुर्वन्] करता हुआ [आत्मा आत्मभावस्य कर्ता स्यात्] आत्मा अपने ही भाव का कर्ता है, [परभावस्य] परभाव का (पुद्गल के भावों का) कर्ता तो

[क्वचित् न] कदापि नहीं है ।

(अनुष्टुभ्)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।

परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥62॥

अन्वयार्थ : [आत्मा ज्ञानं] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, [स्वयं ज्ञानं] स्वयं ज्ञान ही है; [ज्ञानात् अन्यत् किम् करोति] वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करे ? [आत्मा परभावस्य कर्ता] आत्मा परभाव का कर्ता है [अयं] ऐसा मानना (तथा कहना) सो [व्यवहारिणाम् मोहः] व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है ।

(वसन्ततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव

कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंक यैव ।

एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय

संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥63॥

अन्वयार्थ : '[यदि पुद्गलकर्म जीवः न एव करोति] यदि पुद्गलकर्म को जीव नहीं करता [तर्हि] तो फिर [तत् कः कुरुते] उसे कौन करता है ?' [इति अभिशंक या एव] ऐसी आशंका कर के, [एतर्हि] अब [तीव्र-रय-मोह-निवर्हणाय] तीव्र वेगवाले मोह का (कर्तृकर्मत्वके अज्ञानका) नाश करने के लिये, यह कहते हैं कि [पुद्गलकर्मकर्तृ संकीर्त्यते] 'पुद्गलकर्म का कर्ता कौन है'; [शृणुत] इसलिये (हे ज्ञानके इच्छुक पुरुषों !) इसे सुनो ।

(उपजाति)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य

स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।

तस्यां स्थितायां स करोति भावं

यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥64॥

अन्वयार्थ : [इति] इसप्रकार [पुद्गलस्य] पुद्गलद्रव्य की [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणामन शक्ति [खलु अविघ्ना स्थिता] निर्विघ्न सिद्ध हुई । [तस्यां स्थितायां] उसके सिद्ध होने पर, [सः आत्मनः यम् भावं करोति] पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है [तस्य सः एव कर्ता] उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है ।

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया

स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।

तस्यां स्थितायां स करोति भावं

यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥65॥

अन्वयार्थ : [इति] इसप्रकार [जीवस्य] जीव की [स्वभावभूता परिणामशक्तिः] स्वभावभूत परिणामनशक्ति [निरन्तराया स्थिता] निर्विघ्न सिद्ध हुई । [तस्यां स्थितायां] यह सिद्ध होने पर, [सः स्वस्य यं भावं करोति] जीव अपने जिस भावको करता है [तस्य एव सः कर्ता भवेत्] उसका वह कर्ता होता है ।

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेत् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।

अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥66॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानिनः कुतः ज्ञानमयः एव भावः भवेत्] यहाँ प्रश्न यह है कि ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही क्यों होता है [पुनः] और [अन्यः न] अन्य (अज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होता ? [अज्ञानिनः कुतः सर्वः अयम् अज्ञानमयः] तथा अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय ही क्यों होते हैं

तथा [अन्यः न] अन्य (ज्ञानमय भाव) क्यों नहीं होते ?

(अनुष्टुभ्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।

सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥67॥

अन्वयार्थ : [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [सर्वे भावाः] समस्त भाव [ज्ञाननिर्वृत्ताः हि] ज्ञान से रचित [भवन्ति] होते हैं [तु] और [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [सर्वे अपि ते] समस्त भाव [अज्ञाननिर्वृत्ताः] अज्ञान से रचित [भवन्ति] होते हैं ।

(अनुष्टुभ्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।

द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥68॥

अन्वयार्थ : [अज्ञानी] अज्ञानी [अज्ञानमयभावानाम् भूमिकाम्] (अपने) अज्ञानमय भावों की भूमिका में [व्याप्य] व्याप्त होकर [द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानाम्] (आगामी) द्रव्यकर्म के निमित्त जो (अज्ञानादि) भाव उनके [हेतुताम् एति] हेतुत्व को प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्म के निमित्तरूप भावों का हेतु बनता है) ।

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं

स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।

विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता-

स्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥69॥

अन्वयार्थ : [ये एव] जो [नयपक्षपातं मुक्त्वा] नयपक्षपात को छोड़कर [स्वरूपगुप्ताः] (अपने) स्वरूप में गुप्त होकर [नित्यम्] सदा [निवसन्ति] निवास करते हैं [ते एव] वे ही, [विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः] जिनका चित्त विकल्पजाल से रहित शान्त हो गया है ऐसे होते हुए, [साक्षात् अमृतं पिबन्ति] साक्षात् अमृत को पीते हैं ।

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥70॥

अन्वयार्थ : [बद्धः] जीव कर्मों से बँधा हुआ है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव कर्मों से नहीं बँधा हुआ है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता (वस्तुस्वरूप का ज्ञाता) पक्षपात रहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा निरन्तर अनुभवमें आता है) ।

(उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥71॥

अन्वयार्थ : [मूढः] जीव मूढ़ (मोही) है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव मूढ़ (मोही) नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है

(अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा निरन्तर अनुभव में आता है) ।

(उपजाति)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥72॥

अन्वयार्थ : [रक्तः] जीव रागी है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव रागी नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।

(उपजाति)

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥73॥

अन्वयार्थ : [दुष्टः] जीव द्वेषी है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव द्वेषी नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।

(उपजाति)

एकस्य कर्ता न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥74॥

अन्वयार्थ : [कर्ता] जीव कर्ता है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव कर्ता नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।

(उपजाति)

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥75॥

अन्वयार्थ : [भोक्ता] जीव भोक्ता है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव भोक्ता नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।

(उपजाति)

एकस्य जीवो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

अन्वयार्थ : [भावः] जीव भाव है (अर्थात् भावरूप है) [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव भाव नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥81॥

अन्वयार्थ : [एकः] जीव एक है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव एक नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

एकस्य सान्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥82॥

अन्वयार्थ : [सान्तः] जीव सान्त (-अन्त सहित) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव सान्त नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥83॥

अन्वयार्थ : [नित्यः] जीव नित्य है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव नित्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥84॥

अन्वयार्थ : [वाच्यः] जीव वाच्य (अर्थात् वचन से कहा जा सके ऐसा) है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव वाच्य (-वचनगोचर) नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥85॥

अन्वयार्थ : [नाना] जीव नानारूप है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव नानारूप नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥86॥

अन्वयार्थ : [चेत्यः] जीव चेत्य (-चेताजानेयोग्य) है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव चेत्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥87॥

अन्वयार्थ : [दृश्यः] जीव दृश्य (- देखे जाने योग्य) है [एकस्य] ऐसा एक नयका पक्ष है और [न तथा] जीव दृश्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

(उपजाति)

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥88॥

अन्वयार्थ : [वेद्यः] जीव वेद्य (- वेदन में आने योग्य, ज्ञात होने योग्य) है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव वेद्य नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित् एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है ।
(उपजाति)

(उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य

चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।

यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-

स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥89॥

अन्वयार्थ : [भातः] जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है [एकस्य] ऐसा एक नय का पक्ष है और [न तथा] जीव 'भात' नहीं है [परस्य] ऐसा दूसरे नय का पक्ष है; [इति] इसप्रकार [चिति] चित्स्वरूप जीव के सम्बन्ध में [द्वयोः] दो नयों के [द्वौ पक्षपातौ] दो पक्षपात हैं । [यः तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातः] जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है [तस्य] उसे [नित्यं] निरन्तर [चित्] चित्स्वरूप जीव [खलु चित्

एव अस्ति] चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा निरन्तर अनुभूत होता है) ।

(वसन्ततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-

मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।

अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं

स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥90॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [स्वेच्छा-समुच्छलद्-अनल्प-विकल्प-जालाम्] जिसमें बहुत से विकल्पों का जाल अपने आप उठता है ऐसी [महतीं] बड़ी [नय-पक्ष-कक्षाम्] नयपक्षकक्षा को (नयपक्ष की भूमि को) [व्यतीत्य] उल्लंघन करके (तत्त्ववेत्ता) [अन्तः बहिः] भीतर और बाहर [समरसैकरसस्वभावं] समता-रसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है ऐसे [अनुभूतिमात्रम् एकम् स्वं भावम्] अनुभूतिमात्र एक अपने भाव को (— स्वरूपको) [उपयाति]प्राप्त करता है ।

(रथोद्धता)

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्

पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।

यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं

कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥91॥

अन्वयार्थ : [पुष्कल-उत्-चल-विकल्प-वीचिभिः उच्छलत्] विपुल, महान, चञ्चल विकल्परूपी तरंगों के द्वारा उठते हुए [इद् एवम् कृत्स्नम् इन्द्रजालम्] इस समस्त इन्द्रजाल को [यस्य विस्फुरणम् एव] जिसका स्फुरण मात्र ही [तत्क्षणं] तत्क्षण [अस्यति] उड़ा देता है [तत् चिन्महः अस्मि] वह चिन्मात्र तेजःपुञ्ज मैं हूँ ।

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावा-

भावभावपरमार्थतयैकम् ।

बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां

चेतये समयसारमपारम् ॥92॥

अन्वयार्थ : [चित्स्वभाव-भर-भावित-भाव-अभाव-भाव-परमार्थतया एकम्] चित्-स्वभाव के पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य किये जाते हैं — ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप है, इसलिये जो एक है ऐसे [अपारम् समयसारम्] अपार समयसार को मैं, [समस्तां बन्धपद्धतिम्] समस्त बन्धपद्धति को [अपास्य] दूर करके अर्थात् कर्मोदय से होनेवाले सर्व भावों को छोड़कर, [चेतये] अनुभव करता हूँ । (शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना

सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।

विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्

ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥93॥

अन्वयार्थ : [नयानां पक्षैः विना] नयों के पक्षों के रहित, [अचलं अविकल्पभावम्] अचल निर्विकल्पभाव को [आक्रामन्] प्राप्त होता हुआ [यः समयस्य सारः भाति] जो समय का (आत्मा का) सार प्रकाशित होता है [सः एषः] वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा) — [निभृतैः स्वयम् आस्वाद्यमानः] जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों के द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (- अनुभव में आता है) वह — [विज्ञान-एक-रसः भगवान्] विज्ञान ही जिसका एक रस है ऐसा भगवान् है, [पुण्यः पुराणः पुमान्] पवित्र पुराण पुरुष है; चाहे [ज्ञानं दर्शनम् अपि अयं] ज्ञान कहो या दर्शन वह यह (समयसार) ही है; [अथवा किम्] अथवा अधिक क्या कहें? [यत् किंचन अपि अयम् एकः] जो कुछ है सो यह एक ही है (- मात्र भिन्न-भिन्न नाम से कहा जाता है) ।

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो

दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।

विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्

आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥94॥

अन्वयार्थ : [तोयवत्] जैसे पानी अपने समूह से च्युत होता हुआ दूर गहन वन में बह रहा हो उसे दूर से ही ढालवाले मार्ग के द्वारा अपने समूह की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया जाये; तो फिर वह पानी, पानी को पानी के समूह की ओर खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर, अपने समूह में आ मिलता है; इसीप्रकार [अयं] यह आत्मा [निज-ओघात् च्युतः] अपने विज्ञानघनस्वभाव से च्युत होकर [भूरि-विकल्प-जाल-गहने दूरं भ्राम्यन्] प्रचुर विकल्पजालों के गहन वन में दूर परिभ्रमण कर रहा था उसे [दूरात् एव] दूरसे ही [विवेक-निम्न-गमनात्] विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा [निज-ओघं बलात् नीतः] अपने विज्ञानघनस्वभाव की ओर बलपूर्वक मोड़ दिया गया; इसलिए [तद्-एक-रसिनाम्] केवल विज्ञानघन के ही रसिक पुरुषों को [विज्ञान-एक-रसः आत्मा] जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभव में आता है ऐसा वह आत्मा, [आत्मानम् आत्मनि एव आहरन्] आत्मा को आत्मा में ही खींचता हुआ (अर्थात् ज्ञान ज्ञान को खींचता हुआ प्रवाहरूप होकर), [सदा गतानुगतताम् आयाति] सदा विज्ञानघनस्वभाव में आ मिलता है ।

(अनुष्टुभ्)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।

न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥95॥

अन्वयार्थ : [विकल्पकः परं कर्ता] विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और [विकल्पः केवलम् कर्म] विकल्प ही केवल कर्म है; (अन्य कोई कर्ता-कर्म नहीं है;) [सविकल्पस्य] जो जीव विकल्पसहित है उसका [कर्तृकर्मत्वं] कर्ताकर्मपना [जातु] कभी [नश्यति न] नष्ट नहीं होता ।

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं

यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।

यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्

यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥96॥

अन्वयार्थ : [यः करोति सः केवलं करोति] जो करता है सो केवल करता ही है [तु] और [यः वेत्ति सः तु केवलम् वेत्ति] जो जानता है सो केवल जानता ही है; [यः करोति सः क्वचित् न हि वेत्ति] जो करता है वह कभी जानता नहीं [तु] और [यः वेत्ति सः क्वचित् न करोति] जो जानता है वह कभी करता नहीं ।

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः

ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।

ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने

ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥97॥

अन्वयार्थ : [करोतौ अन्तः ज्ञप्तिः न हि भासते] करनेरूप क्रिया के भीतर जानने रूप क्रिया भासित नहीं होती [च] और [ज्ञप्तौ अन्तः करोतिः न भासते] जानने रूप क्रिया के भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; [ततः ज्ञप्तिः करोतिः च विभिन्ने] इसलिये 'ज्ञप्तिक्रिया' और 'करोति' क्रिया दोनों भिन्न हैं; [च ततः इति स्थितं] और इससे यह सिद्ध हुआ कि [ज्ञाता कर्ता न] जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि

द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।

ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-

नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥98॥

अन्वयार्थ : [कर्ता कर्मणि नास्ति, कर्म तत् अपि नियतं कर्तरि नास्ति] निश्चय से न तो कर्ता कर्म में है, और न कर्म कर्ता में ही है — [यदि द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते] यदि इसप्रकार परस्पर दोनों का निषेध किया जाये [तदा कर्तृकर्मस्थितिः का] तो कर्ता-कर्म की क्या स्थिति होगी ? (अर्थात् जीव-पुद्गल के कर्ताकर्मपन कदापि नहीं हो सकेगा ।) [ज्ञाता ज्ञातरि, कर्म सदा कर्मणि] इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञातामें ही है और कर्म सदा कर्ममें ही है [इति वस्तुस्थितिः व्यक्ता] ऐसी वस्तुस्थिति प्रगट है [तथापि बत] तथापि अरे ! [नेपथ्ये एषः मोहः किम् रभसा नानटीति] नेपथ्य में यह मोह क्यों अत्यन्त वेगपूर्वक नाच रहा है ? (इसप्रकार आचार्य को खेद और आश्चर्य होता है ।)

(मन्दाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव

ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।

ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-

श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥99॥

अन्वयार्थ : [अचलं] अचल, [व्यक्तं] व्यक्त और [चित्-शक्तिनां निकर-भरतः अत्यन्त-गम्भीरम्] चित्शक्तियों के (- ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेदों के) समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर [एतत् ज्ञानज्योतिः] यह ज्ञानज्योति [अन्तः] अन्तरङ्ग में [उच्चैः] उग्रता से [तथा ज्वलितम्] ऐसी जाज्वल्यमान हुई कि — [यथा कर्ता कर्ता न भवति] आत्मा अज्ञान में कर्ता होता था सो अब वह कर्ता नहीं होता और [कर्म कर्म अपि न एव] अज्ञान के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप होता था सो वह कर्मरूप नहीं होता; [यथा ज्ञानं ज्ञानं भवति च] और ज्ञान ज्ञानरूप ही रहता है तथा [पुद्गलः पुद्गलः अपि] पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है ।

(द्रुतविलम्बित)

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो

द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।

ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं

स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥100॥

अन्वयार्थ : [अथ] अब (कर्ता-कर्म अधिकार के पश्चात्), [शुभ-अशुभ-भेदतः] शुभ और अशुभ के भेद से [द्वितयतां गतम् तत् कर्म] द्वित्व को प्राप्त उस कर्म को [ऐक्यम् उपानयन्] एक रूप करता हुआ, [ग्लपित-निर्भर-मोहरजा] जिसने अत्यंत मोहरज को दूर कर दिया है ऐसा [अयं अवबोध-सुधाप्लवः] यह (प्रत्यक्ष - अनुभवगोचर) ज्ञान सुधांशु (सम्यग्ज्ञानरूपी चन्द्रमा) [स्वयम्] स्वयं [उदेति] उदय को प्राप्त होता है ।

(मन्दाक्रान्ता)

एको दूरात्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-

दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।

द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः

शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥101॥

अन्वयार्थ : (शूद्रा के पेट से एक ही साथ जन्म को प्राप्त दो पुत्रों में से एक ब्राह्मण के यहाँ और दूसरा शूद्रा के घर पला। उनमें से) [एकः] एक तो [ब्राह्मणत्व-अभिमानात्] 'मैं ब्राह्मण हूँ' इसप्रकार ब्राह्मणत्व के अभिमान से [दूरात्] दूर से ही [मदिरां] मदिरा का [त्यजति] त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता; तब [अन्यः] दूसरा [अहम् स्वयम् शूद्रः इति] 'मैं स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर [नित्यं] नित्य [तया एव] मदिरा से ही [स्नाति] स्नान करता है अर्थात् उसे पवित्र मानता है । [एतौ द्वौ अपि] यद्यपि वे दोनों [शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ] शूद्रा के पेट से एक ही साथ उत्पन्न हुए हैं वे [साक्षात् शूद्रौ] (परमार्थतः) दोनों साक्षात् शूद्र हैं, [अपि च] तथापि [जातिभेदभ्रमेण]

जातिभेद के भ्रम सहित [चरतः] प्रवृत्ति (आचरण) करते हैं । इसीप्रकार पुण्य और पाप के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

(उपजाति)

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां

सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः

तद्वन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं

स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥102॥

अन्वयार्थ : [हेतु-स्वभाव-अनुभव-आश्रयाणां] हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय — इन चारों का [सदा अपि] सदा ही [अभेदात्] अभेद होने से [न हि कर्मभेदः] कर्म में निश्चय से भेद नहीं है; [तद् समस्तं स्वयं] इसलिये, समस्त कर्म स्वयं [खलु] निश्चय से [बन्धमार्ग-आश्रितम्] बन्धमार्ग के आश्रित है और [बन्धहेतुः] बन्ध का कारण है, अतः [एक मूढं] कर्म एक ही माना गया है — उसे एक ही मानना योग्य है ।

(स्वागता)

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्

बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।

तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं

ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥103॥

अन्वयार्थ : [यद्] क्योंकि [सर्वविदः] सर्वज्ञदेव [सर्वम् अपि कर्म] समस्त(शुभाशुभ) कर्म को [अविशेषात्] अविशेषतया [बन्धसाधनम्] बन्ध का साधन (कारण) [उशन्ति] क हते हैं, [तेन] इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि उन्होंने) [सर्वम् अपि तत् प्रतिषिद्धं] समस्त कर्म का निषेध किया है और [ज्ञानम् एव शिवहेतुः विहितं] ज्ञान को ही मोक्षका कारण कहा है ।

(शिखरिणी)

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल

प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।

तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं

स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥104॥

अन्वयार्थ : [सुकृतदुरिते सर्वस्मिन् कर्मणि किल निषिद्धे] शुभ आचरणरूप कर्म और अशुभ आचरणरूप कर्म — ऐसे समस्त कर्म का निषेध कर देने पर और [नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते] इसप्रकारानिष्कर्म (निवृत्ति) अवस्था प्रवर्तमान होने पर [मुनयः खलु अशरणाः न सन्ति] मुनिजन कहीं अशरण नहीं हैं; [तदा] (क्योंकि) जब निष्कर्म अवस्था प्रवर्तमान होती है तब [ज्ञाने प्रतिचरितम् ज्ञानं हि] ज्ञान में आचरण करता हुआ — रमण करता हुआ — परिणमन करता हुआ ज्ञान ही [एषां] उन मुनियों को [शरणं] शरण है; [एते] वे [तत्र निरताः] उस ज्ञान में लीन होते हुए [परमम् अमृतं] परम अमृत का [स्वयं] स्वयं [विन्दन्ति] अनुभव करते हैं — स्वाद लेते हैं ।

(शिखरिणी)

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं

शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।

अतोऽन्यद्वन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्

ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥105॥

अन्वयार्थ : [यद् एतद् ध्रुवम् अचलम् ज्ञानात्मा भवनम् आभाति] जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुवरूप से और अचलरूप से ज्ञानस्वरूप होता हुआ — परिणमता हुआ भासित होता है [अयंशिवस्य हेतुः] वही मोक्ष का हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि शिवः इति] वह स्वयमेव मोक्ष स्वरूप है; [अतः अन्यत्] उसके अतिरिक्त जो अन्य कुछ है [बन्धस्य] वह बन्ध का हेतु है, [यतः] क्योंकि [तत् स्वयम् अपि बन्धः इति] वह स्वयमेव बन्धस्वरूप है । [ततः] इसलिये [ज्ञानात्मत्वं भवनम्] ज्ञानस्वरूप होने का (- ज्ञानस्वरूप परिणमित होने का)

अर्थात् [अनुभूतिः हि] अनुभूति करने का ही [विहितम्] आगम में विधान है।

(अनुष्टुभ्)

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।

एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥106॥

अन्वयार्थ : [एक द्रव्यस्वभावत्वात्] ज्ञान द्रव्यस्वभावी (- जीवस्वभावी -) होने से [ज्ञानस्वभावेन] ज्ञान के स्वभाव से [सदा] सदा [ज्ञानस्य भवनं वृत्तं] ज्ञान का भवन बनता है; [तत्] इसलिये [तद् एव मोक्षहेतुः] ज्ञान ही मोक्ष का कारण है ।

(अनुष्टुभ्)

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।

द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥107॥

अन्वयार्थ : [द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्] कर्म अन्यद्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होने से [कर्मस्वभावेन] कर्म के स्वभाव से [ज्ञानस्य भवनं न हि वृत्तं] ज्ञान का भवन नहीं बनता; [तत्] इसलिये [कर्म मोक्षहेतुः न] कर्म मोक्ष का कारण नहीं है ।

(अनुष्टुभ्)

मोक्षहेतुतिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥108॥

अन्वयार्थ : [मोक्षहेतुतिरोधानात्] कर्म मोक्ष के कारण का तिरोधान करनेवाला है, और [स्वयम् एव बन्धत्वात्] वह स्वयं ही बन्धस्वरूप है [च] तथा [मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्] वह मोक्ष के कारण का तिरोधायिभावस्वरूप (तिरोधानकर्ता) है, इसीलिये [तत् निषिध्यते] उसका निषेध किया गया है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना

संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।

सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्-

नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥109॥

अन्वयार्थ : [मोक्षार्थिना इदं समस्तम् अपि तत् कर्म एव संन्यस्तव्यम्] मोक्षार्थी को यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है । [संन्यस्ते सति तत्र पुण्यस्य पापस्य वा किल का कथा] जहाँ समस्त कर्म का त्याग किया जाता है फिर वहाँ पुण्य या पाप की क्या बात है ?

(कर्ममात्र त्याज्य है तब फिर पुण्य अच्छा है और पाप बुरा, ऐसी बात को अवकाश ही कहाँ हैं ? कर्म सामान्य में दोनों आ गये हैं ।)

[सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात् मोक्षस्य हेतुः भवन्] समस्त कर्म का त्याग होने पर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावस्वरूप होने से — परिणमन करने से मोक्ष का कारणभूत होता हुआ, [नैष्कर्म्यप्रतिबद्धम् उद्धतरसं] निष्कर्म अवस्था के साथ जिसका उद्धत (उत्कट) रसप्रतिबद्ध है ऐसा [ज्ञानं] ज्ञान [स्वयं] अपने आप [धावति] दौड़ा चला आता है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा

कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।

किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्-

मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥110॥

अन्वयार्थ : [यावत्] जब तक [ज्ञानस्य कर्मविरतिः] ज्ञान की कर्मविरति [सा सम्यक् पाकम् न उपैति] भलिभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं होती [तावत्] तब तक [कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः, न काचित् क्षतिः] कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है । [किन्तु] किन्तु [अत्र अपि] यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में [अवशतः यत् कर्म समुल्लसति] अवशपनें जो कर्म प्रगट होता है [तत् बन्धाय] वह तो बंध का कारण है, और [मोक्षाय] मोक्षका कारण तो, [एकम्

एव परमं ज्ञानं स्थितम्] जो एक परम ज्ञान है वह एक ही है — [स्वतः विमुक्तं] जो कि स्वतःविमुक्त है (अर्थात् तीनों काल परद्रडुव्य-भावोंसे भिन्न है) ।

(शार्दूलविक्रीडित)

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्-

मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।

विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं

ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥111॥

अन्वयार्थ : [कर्मनयावलम्बनपराः मग्नाः] कर्मनय के आलम्बन में तत्पर [अर्थात्(कर्मनय के पक्षपाती)] पुरुष डूबे हुए हैं, [यत्] क्योंकि [ज्ञानं न जानन्ति] वे ज्ञान को नहीं जानते । [ज्ञाननय-एषिणः अपि मग्नाः] ज्ञाननय के इच्छुक (पक्षपाती) पुरुष भी डूबे हुए हैं, [यत्] क्योंकि [अतिस्वच्छन्दमन्द-उद्यमाः] वे स्वच्छंदता से अत्यन्त मन्द-उद्यमी हैं (- वे स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते, प्रमादी हैं और विषय कषाय में वर्तते हैं) । [ते विश्वस्य उपरि तरन्ति] वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं [ये स्वयं सततं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति] जो कि स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए - परिणमते हुए कर्म नहीं करते [च] और [जातु प्रमादस्य वशं न यान्ति] कभी भी प्रमादवश भी नहीं होते (- स्वरूप में उद्यमी रहते हैं) ।

(मन्दाक्रान्ता)

भेदोन्मादं भ्रमरसभराट्टयत्पीतमोहं

मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि

ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥112॥

अन्वयार्थ : [पीतमोहं] मोहरूपी मदिरा के पीने से [भ्रम-रस-भराट्ट भेदोन्मादं नाटयत्] भ्रमरस के भार से (अतिशयपने से) शुभाशुभ कर्म के भेदरूपी उन्माद को जो नचाता है [तत् सकलम् अपि कर्म] ऐसे समस्त कर्म को [बलेन] अपने बल द्वारा [मूलोन्मूलं कृत्वा] समूल उखाड़कर [ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्जजृम्भे] ज्ञानज्योति अत्यन्त सामर्थ्य सहित प्रगट हुई । वह ज्ञानज्योति ऐसी है कि [क वलिततमः] जिसने अज्ञानरूपी अंधकार का ग्रास कर लिया है अर्थात् जिसने अज्ञानरूप अंधकार का नाश कर दिया है, [हेला-उन्मिलत्] जो लीलामात्र से (सहज पुरुषार्थ से) विकसित होती जाती है और [परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि] जिसने परम कला अर्थात् केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा प्रारम्भ की है (जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है तब तक ज्ञानज्योति केवलज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से परोक्ष क्रीड़ा करती है, केवलज्ञान होने पर साक्षात् होती है ।)